द्वितीय अध्याय
भगवद्गीता

१. भूमिका

भगवद्गीता भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र युद्ध में अर्जुन को दिया गया उपदेश है। यह वेदान्त दर्शन का सार है और अत्यन्त समादरणीय ग्रन्थ है। यह गोपालनन्दन श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को बछड़ा बनाकर उपनिषद् रूपी गायों से दुहा गया अमृतमय दूध है जिसे सुधीजन पीते हैं।[१] यह महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी अत्यन्त प्रशंसा करते हुए इसे 'मानव धर्म का ग्रन्थ' बताया है। इसकी तुलना कामधेनु और कल्पवृक्ष से की गई है। महात्मा गाँधी ने गीता को जगन्माता बताया है जिसके द्वार सदा सबके लिए खुले हैं। श्रीमती एनी बेसेन्ट के अनुसार गीता साधक को सन्यास के उस निम्न स्तर से जहाँ पदार्थों का तथा कर्मों का त्याग किया जाता है निष्काम कर्मयोग के उस उच्च स्तर पर ले जाती है जहाँ कामना और आसक्ति का त्याग किया जाता है और जहाँ योगी समाधिस्थ होते हुए भी शरीर और मन से लोककल्याण के लिए कार्य करते हैं।

कुरुक्षेत्र के युद्ध में एक ओर पाण्डव सेना और दूसरी ओर कौरव सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी है। भगवान् कृष्ण जो अर्जुन के सारथि हैं रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन अपने गुरुजनों, सम्बन्धियों और परिजनों से लड़ने से साफ मना कर देता है और कहता है कि युद्ध जीत लेने पर भी अपने परिवारजनों के रक्त से रंजित राज्य-सुख का उपभोग करने से कोई लाभ नहीं, अतः मैं इनसे नहीं लडूँगा, चाहे ये मुझे मार डालें। भगवान् कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि क्षत्रिय राजपुत्र और धर्मरक्षक होने के नाते उसका कर्तव्य है कि वह अधर्म और अशुभ से लड़े एवं धर्म को विजयी बनाये। अर्जुन तर्क-वितर्क करता गया और श्रीकृष्ण उसे समझाते गये कि युद्ध करना उसका धर्म है, कि उसे अपने 'स्वभाव' और स्वधर्म का पालन करना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य है कि गीता का उपदेश सम्पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने केवल यही कहा—'जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वही करो'[२]; और अर्जुन ने उत्तर दिया—'आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, अतः मैं, जैसा आपने कहा, वही करूँगा।[३]

---

१. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

२. यथेच्छसि तथा कुरु। गीता, १८-६३

३. करिष्ये वचनं तव। गीता, १८-७३

Scanned with CamScanner

२. तत्त्व विवेचन

गीता का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त है कि जो असत् है उसका भाव नहीं हो सकता, और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता।[१] सत् वही है जो त्रिकालाबाध हो, अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सदा सर्वदा नित्य, एकरस और अपरिवर्तनशील रहे। यह लक्षण शुद्ध आत्मतत्त्व या ब्रह्म का है और वही 'सत्' है। गीता में आत्मतत्त्व के लिए नित्य, अविनाशी, अज, अव्यय, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य आदि पद प्रयुक्त हुए हैं। शरीर नश्वर है; आत्मा नित्य है, अतः वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने जीर्ण वस्त्रों को उतार कर दूसरे नये वस्त्रों को पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरों को छोड़ कर नये शरीरों को धारण करता है।[२] गीता ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को मानती है और यह भी मानती है कि ये दोनों रूप एक ही अभिन्न तत्त्व के हैं। ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है; वह शुद्धचैतन्य और अखण्ड आनन्द है; वह निर्विकल्प निरुपाधि विश्वातीत भी है। अन्तर्यामी रूप में वह सारी प्रकृति और समस्त प्राणियों में वास करता है। जिस प्रकार सूत्र में मणि-गण पिरोये रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में समस्त विश्व अनुस्यूत है।[३] विश्वात्मा होते हुए भी वह विश्व में सीमित नहीं है; वह विश्वातीत भी है, यह उसका अनुत्तम पर भाव है।[४]

गीता परमेश्वर की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है, अपरा और परा। अपरा प्रकृति को क्षेत्र और क्षर पुरुष भी कहा गया है। यह जड़ प्रकृति है जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान हैं। परा प्रकृति में चेतन जीव आते हैं। इसकी अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ और अक्षर पुरुष भी हैं।[५] चैतन्य रूप होने से जीव ईश्वर की उत्कृष्ट या परा प्रकृति या विभूति है। जीव कूटस्थ और अक्षर है। जीव ईश्वर का सनातन अंश है।[६] क्षर पुरुष (जड़ प्रकृति) और अक्षर पुरुष (जीव) इन दोनों के ऊपर उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम है।[७] यह पुरुषोत्तम ही परम तत्त्व है। यह जड़ प्रकृति और चेतन जीव दोनों का आत्मा है और दोनों में अन्तर्यामी रह कर दोनों का नियमन करता है; किन्तु यह दोनों के ऊपर (अतीतः) भी है, यह विश्वातीत पुरुषोत्तम है। इस प्रकार गीता में निर्गुण ब्रह्म और सगुण ईश्वर का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है।

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता, २-१६
२. गीता, २-२२
३. मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। गीता, ७-७
४. गीता, ७, २४
५. गीता, ७-४, ५ तथा १५-१६; क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
६. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता, १५-७
७. गीता, १५-१७, १८ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

Scanned with CamScanner

३. योग

गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति का विलक्षण समन्वय हुआ है जो गीता के गौरव का प्रतीक है। ध्यानमार्ग साधना का मार्ग है जो ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों में उपादेय है। ध्यान मानसी क्रिया होने से कर्म से सम्बद्ध है; उपासना भगवान् का ध्यान या स्मृति होने से भक्ति से सम्बद्ध है; और चित्त की एकाग्रता द्वारा वृत्तियों के समाधि में विलीन होने पर निर्विकल्प ज्ञान का प्रकाशित होना ध्यान का लक्ष्य है। गीता में योग शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और योग में ध्यान, ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय है। योग का शाब्दिक अर्थ है मिलन अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से मिलन, इतना प्रगाढ़ मिलन कि दोनों दो न रह कर एक हो जावें। योग में दुःख से आत्यन्तिक वियोग और अखण्ड आनन्द से आत्यन्तिक संयोग होता है। योग धारणा-ध्यान-समाधि है (ध्यानयोग); योग स्थितप्रज्ञ की द्वन्द्वातीत ब्राह्मी स्थिति है (ज्ञानयोग); योग निष्काम कर्म है, कर्मकौशल अर्थात् कामनारहित कर्म है (कर्मयोग)[१]; योग भक्ति द्वारा भगवत्-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान और भगवत्-प्रवेश है (भक्तियोग)।[२] योगी द्वन्द्वातीत है; शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि में अविचल है; ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा है; समदृष्टि और समबुद्धि है।[३] जैसे वायुरहित स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है, वैसे ही योगी का चित्त स्थिर रहता है।[४] योग वह है, जिसमें स्थित योगी तत्त्वज्ञान से विचलित नहीं होता एवं अतीन्द्रिय तथा शुद्ध ज्ञानगम्य अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। जिसे पाकर उससे अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं मानता; जिसमें स्थित होकर घोर दुःख से भी विचलित नहीं होता। जो दुःख के संयोग से सर्वथा रहित है, वही योग है।[५]

४. ज्ञान

ऊपर वर्णित योग वस्तुतः ज्ञानयोग है। योगी का लक्ष्य अपरोक्षानुभूति द्वारा आत्मसाक्षात्कार है, जो ज्ञान बिना सम्भव नहीं। भगवान् अपने भक्तों को कृपा करके ज्ञानयोग प्रदान करते हैं, जिससे वे उन्हें पा सकें।[६] बिना ज्ञान के योग शारीरिक और मानसिक व्यायाम मात्र है। इन्द्रियों को उनके 'आहार' से अर्थात् विषयोपभोग से बलात् कुछ देर के लिए रोकने से विषय कुछ समय के लिए निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु फिर भी विषयोपभोग की लालसा मन में बनी रहती है, विषय-सुख या भोग-रस की स्मृति बनी रहती है, यह भोग-रस या भोगेच्छा आत्मज्ञान से ही निवृत्त हो सकती है।[७] जिस प्रकार सुसमिद्ध अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती

---

१. योगः कर्मसु कौशलम्।
२. गीता, ११-५४; १८-५५; ८-२२
३. गीता, ६-७, ८; समत्वं योग उच्यते।
४. गीता, ६-१९
५. गीता, ६-२१, २२, २३
६. गीता, १०-१०, ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
७. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। गीता, २-५९

Scanned with CamScanner

है, उसी प्रकार सुसमिद्ध ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है[१] संसार-सागर को ज्ञान-यान से ही पार किया जा सकता है। कर्म की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है।[२] ज्ञान से ही परम शान्ति या आनन्द मिलता है।[३] ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ नहीं है।[४] भक्तों में भी ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है।[५] भगवान् ने ज्ञानी को अपना आत्मा कहा है।[६] ज्ञान-निष्ठा की परिपूर्णता के दो रूप हैं—एक तो सर्वत्र जगत् की समस्त चेतनाचेतन वस्तुओं में भगवत्-तत्त्व या आत्म-तत्त्व का देखना; और दूसरा रूप है भगवान् या आत्मा में समस्त विश्व को देखना। दोनों रूप एक दूसरे के पूरक हैं।[७]

५. कर्म

गीता के कर्मयोग का ज्ञान योग से कोई विरोध नहीं है, अपितु गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। देहधारी प्राणी के लिए कर्मों का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है।[८] प्रकृति के सत्त्वरजस्तमोगुण सब प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं। यह सारा लोक कर्म से बँधा है।[९] गीता ने कर्मयोग में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भुत समन्वय किया है। गीता कर्म का निषेध नहीं करती; कर्म में फलासक्ति या कामना का निषेध करती है। वासना, कामना, आसक्ति या फलाकांक्षा कर्म का विष-दन्त है, जो कर्ता को बन्धन में बाँधता है। इस विष-दन्त को निकाल देने पर कर्म में बाँधने की शक्ति नहीं रह जाती। गीता का कर्मयोग 'नैष्कर्म्य' (कर्म-निषेध) नहीं है, अपितु 'निष्काम कर्म' (कामनारहित कर्म; कामना-निषेध) है। 'सन्यास' का अर्थ कर्म का त्याग नहीं है, किन्तु कामना का त्याग है। त्याग का अर्थ कर्म का त्याग नहीं, अपितु कर्मफल का त्याग है।[१०] गीता की सुप्रसिद्ध उक्ति है—तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, कर्म-फल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं; अतः तुम कर्म-फल की कामना या फलासक्ति मत करो, और न ही तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म न करने में हो।[११]

---

१. गीता, ४-३७, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।
२. गीता, ४-३६, ३३
३. गीता, ४-३९, ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।
४. गीता, ४-३८, नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
५. गीता, ७-१६, १७
६. गीता, ७-१८, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
७. गीता, ६-२९, ३० यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
८. गीता, १८-११, नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
९. गीता, ३-५, ९, लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
१०. गीता, १८-२, काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।
११. गीता, २-४७, कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

Scanned with CamScanner

यहाँ पर यह आपत्ति उठाई जाती है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिना फल की इच्छा के कोई कर्म नहीं किया जाता। बिना किसी प्रयोजन के तो मन्द पुरुष भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।[१] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सही हो सकता है। इसीलिए गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी के लिए है, साधारण जन के लिए नहीं। गीता का निष्काम कर्म ज्ञान और भक्ति दोनों से अनुप्राणित है। प्रारम्भ में यदि कर्म के लिए कामना आवश्यक ही हो, तो समस्त लौकिक कामनाओं का त्याग करके साधकों को केवल आध्यात्मिक उन्नति की कामना से कार्य करने चाहियें; भगवत्प्रीति के लिए भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करने से आध्यात्मिक उन्नति होती है और कर्मों द्वारा बन्धन नहीं होता, जैसे पद्म-पत्र जल में लिप्त नहीं होता।[२] यह सत्य है कि पूर्णतया निष्काम कर्म तो जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष के लिए ही सम्भव है। सिद्ध पुरुषों का कोई स्वार्थ नहीं होता। उनके कार्य लोक-सङ्ग्रह के लिए, लोक-कल्याण के लिए होते हैं। ब्रह्म-ज्ञान के बाद कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, ब्रह्मानन्दपीयूष-पान के बाद कोई पातव्य शेष नहीं रहता। सिद्ध पुरुष के लिए कोई 'कर्तव्य' नहीं है। **उसका (तस्य)** कोई कार्य शेष नहीं है।[३] इसका अर्थ है कि उसका कोई स्वार्थ नहीं है, उसके कार्य लोक-कल्याण के लिए होते हैं। वह लोक-कल्याण की **कामना** से कार्य नहीं करता, अपितु उसके द्वारा सम्पादित कार्यों से स्वत: लोक-कल्याण होता है, जैसे सूर्य की स्थिति मात्र से प्रकाश फैलता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि उनके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं है, फिर भी उनके द्वारा कर्म-सम्पादन हो रहा है, अन्यथा समस्त लोकों का उच्छेद हो जाय।[४]

६. भक्ति

गीता-ज्ञान का सार भक्ति है; भक्ति गीता का हृदय है। गीता के उपदेश का प्रारम्भ प्रपत्ति या शरणागति से होता है, जब अर्जुन धर्म के विषय में मोहग्रस्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है—'मैं आपका शिष्य हूँ। आपका प्रपन्न हूँ अर्थात् आपकी शरण में आया हूँ। आप कृपया अपने सदुपदेश से मेरा मोह दूर करें।'[५] गीता के मध्य में भी नवें अध्याय में भक्ति को 'राजविद्या' और 'राजगुह्ययोग' बताकर शरणागति (मत्परायण:) की महिमा प्रतिष्ठित की गई है।[६] गीता का पर्यवसान भी शरणागति में ही हुआ है, जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्तिम अष्टादश अध्याय के अन्त में अपने उपदेश का समापन इस प्रकार किया है—'हे अर्जुन! अब तू मेरे सर्वाधिक गोपनीय परम रहस्यमय इस वचन को सुन कि तू सब कुछ छोड़कर मेरी अनन्य शरण में आजा, तू निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा।'[७]

---

१. प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।
२. लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा। गीता, ५-१०
३. तस्य कार्यं न विद्यते। गीता, ३-१७
४. गीता, ३-२२, २४; वर्त एव च कर्मणि।
५. शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। गीता, २-७
६. गीता, ९-३४
७. मामेकं शरणं व्रज। गीता, १८-६४, ६6

Scanned with CamScanner

गीता का भक्तियोग ज्ञान और कर्म से अनुप्राणित है। परा भक्ति, पर ज्ञान और निष्काम कर्म वस्तुतः एक ही हैं, क्योंकि तीनों का अर्थ है—निर्विकल्प अपरोक्ष आत्मानुभूति। भक्ति, ज्ञान और कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में ही है, क्योंकि अपनी चरम अवस्था में ये सभी अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार गीता ने इनका समन्वय करके साधना मार्ग को भी सरल, सुबोध और सुगम बना दिया है। लौकिक ज्ञान बुद्धि-विकल्प-जन्य है और ज्ञातृज्ञेयद्वैत पर टिका है; परज्ञान अद्वैत निर्विकल्प अनुभूति है। भक्ति का सामान्य अर्थ भगवान् का भजन, सेवा, स्मरण है, और यह भी भक्त और भगवान् के द्वैत पर टिकी है; किन्तु परा भक्ति में अखण्डज्ञानानन्दरूप भगवत्स्वरूप में भक्त और भगवान् एकाकार हो जाते हैं। लौकिक कर्म में कामना बनी रहती है और यह कर्तृ-कर्म-द्वैत पर टिका है; निष्काम कर्म कामनारहित और कर्तृत्वाभिमानशून्य होने से जीवन्मुक्ति की अद्वैत स्थिति का द्योतक है।

भक्त भगवत्कृपा और भगवद्वचनों से आश्वस्त रहता है। भगवान् की अनन्य शरण में जाने पर भगवान् ही उसका ध्यान रखते हैं। गीता में भगवान् ने बारम्बार इस प्रकार आश्वासन दिये हैं—'मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।[१] कल्याणकर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।[२] यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी निश्छल रूप से मेरा भजन करने लगे, तो उसे साधु ही मानना चाहिए क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है।[३] इस अनित्य और सुखरहित लोक में मेरा भजन करना चाहिए।[४] हे अर्जुन! तू मुझमें ही निरन्तर मन लगा, मेरा भजन कर, मुझे अर्पण करके कर्मों द्वारा मेरा यजन कर, मुझे ही प्रणाम कर, तू मेरी अनन्य शरण में आ जा और अपनी आत्मा को मुझमें प्रतिष्ठित कर दे, तू मुझे ही प्राप्त होगा।[५] मुझमें निरन्तर अपना मन लगाने वाले भक्तों का मैं शीघ्र ही जन्ममरणरूप इस संसार-सागर से उद्धार करता हूँ।[६] अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी, इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसकी मुझमें अनन्य भक्ति होती है, अतः उसे मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है।'[७]

भक्ति का अर्थ उपासना किया जाता है। उपासना का अर्थ है भगवान् का निरन्तर ध्यान, भगवान् का तैलधारावत् निरन्तर स्मरण। नाम-जप से स्मरण पुष्ट होता है। निरन्तर स्मरण से भगवान् प्रसन्न होकर अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। अखण्डचिदानन्द की अपरोक्षानुभूति में भक्त का भगवान् से एकीभाव हो जाता है। इस प्रकार परा भक्ति और परज्ञान में कोई भेद नहीं रहता। गीता ने बार-बार भक्ति और ज्ञान की एकता प्रतिपादित की है। गीता

---

१. न मे भक्तः प्रणश्यति। गीता, ९-३१
२. गीता, ६-४०
३. गीता, ९-३०, ३१
४. गीता, ९-३३
५. गीता, ९-३४, मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।
६. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। गीता, १२-७
७. गीता, ७-१६, १७

का 'अनन्य भक्ति' पर बहुत आग्रह है। अनन्य भक्ति से ही भगवत्स्वरूप का ज्ञान और भगवत्प्राप्ति तथा भगवान् से तादात्म्य सम्भव है। ज्ञानी को भगवान् ने अनन्य भक्त (एकभक्तिः) और आत्म-स्वरूप (आत्मैव मे) बताया है। 'जो भक्त अनन्य भक्ति से मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनकी भगवत्प्राप्ति (योग) और उसकी साधना (क्षेम) की मैं रक्षा करता हूँ।[१] जो भक्त अनन्य योग से मेरा ध्यान और उपासना करते हैं, मैं जन्ममृत्युरूप संसार-सागर से उनका उद्धार करता हूँ।[२] हे अर्जुन! अनन्य भक्ति से ही मेरा तात्त्विक ज्ञान किया जा सकता है, मेरा प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है, और मुझमें प्रवेश करके मुझसे एकाकार हुआ जा सकता है।[३] भगवत्दर्पणबुद्धि से कर्म करने से और भगवान् का निरन्तर ध्यान करने से साधक को ब्रह्मभाव का बोध होने लगता है, इस बोध से अनन्य भक्ति का उदय होता है, अनन्य भक्ति से भगवान् का तात्त्विक ज्ञान होता है, और इस ज्ञान के उदय होते ही भक्त भगवान् में प्रवेश कर जाता है अर्थात् भगवान् से उसका एकीभाव हो जाता है।[४] यद्यपि परज्ञान और पराभक्ति एक ही हैं और ज्ञान तथा भक्ति का चरम लक्ष्य भी भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि निर्गुण उपासना को गीता 'अधिकक्लेशयुक्त' और कठिन बताती है एवं सगुण उपासना का उपदेश देती है।[५] गीता का प्रपत्ति या शरणागति पर अत्यन्त बल है। सच्चे हृदय से भगवान् की शरण लेने पर सब कुछ वे ही सँभाल लेते हैं, साधना के द्वार खुलते जाते हैं और अन्त में भगवदनुग्रह से भगवत्प्राप्ति हो जाती है।' गीता में भगवान् ने अर्जुन को जो अन्तिम परमगुह्य उपदेश दिया वह है—'हे अर्जुन! तू मुझमें निरन्तर मन लगाये रह, मेरी अनन्य भक्ति कर, मुझे सर्वस्व अर्पण कर, मुझे ही प्रणाम कर, ऐसा करने से तू निश्चय ही मुझे प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्रिय है। तू सब धर्मों को (कर्मों को) त्याग कर मेरी अनन्य शरण में आ जा, मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'[६]

---

१. गीता, ९-२२
२. गीता, १२-६, ७
३. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। गीता, ११-५४
४. गीता, १८-५४, ५५, ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा ...... मद्भक्तिं लभते पराम्।
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।
५. गीता, १२-५, ६, ७, ८
६. गीता, १८, ६५-६६ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

Scanned with CamScanner